षट्खण्डागमके 'संजद' पदपर विमर्श

[यह लेख साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओंके ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे आज भी महत्त्वपूर्ण है ।]

अर्सेसे प्रोफेसर हीरालालजी जैनके "क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके शासनोंमें कोई मौलिक भेद है ?" शीर्षक वक्तव्यपर उनके और दिगम्बर जैन समाजके बीच विवाद चल रहा है। दिगम्बर समाजने प्रोफेसर साहबके वक्तव्यको दिगम्बर मान्यताओंके मूलपर एक आघात समझा है। उसकी धारणा है कि यदि इस वक्तव्यका निराकरण न करके इसके प्रति उपेक्षा धारण कर ली जाय, तो भविष्यमें दिगम्बर मान्यताओंके प्रति जनसाधारणका अविश्वास हो सकता है।

किसी भी संस्कृतिकी उपासक समष्टि उस संस्कृतिको जहाँ अपने कल्याणका साधन समझती है वहाँ उसकी सन्तान और दूसरे-दूसरे लोग भी उस संस्कृतिसे अपना कल्याण कर सकें, यह भावना भी उसमें स्वाभाविक तौरपर विद्यमान रहती है। यही एक आधार है कि प्रत्येक समष्टिके ऊपर अपनी-अपनी संस्कृतिके संरक्षण और प्रसारका भार बना हुआ है। इस दृष्टिसे प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध दिगम्बर समाजका आवाज उठाना जहाँ न्याय-संगत माना जा सकता है वहाँ यह मानना भी न्याय्य है कि प्रोफेसर साहबने अपनी बुद्धिपर भरोसा करके दिगम्बर आगमग्रन्थोंका एक निष्कर्ष निकालने और उस निष्कर्षको समाजके सामने रखनेका जो प्रयत्न किया है वह उनके भी स्वतंत्र अधिकारकी बात है। फिर जिस विषयको एक निष्कर्षके रूपमें प्रोफेसर साहबने समाजके सामने उपस्थित किया है वह विषय संदिग्धरूपसे न मालूम कितने आगमके अभ्यासी व्यक्तियोंके हृदयमें विद्यमान होगा। इसलिये प्रोफेसर साहबके इस प्रयत्नसे वक्तव्य-संग्रहीत विषयोंको आगमग्रन्थोंके निर्विवाद अर्थों द्वारा एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा देनेका योग्य अवसर ही समझना चाहिये था। परन्तु हम देखते हैं कि प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियों तथा दिगम्बर समाजके विचारोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले विषयके अधिकारीवर्गके बीच लम्बे अर्सेसे चल रहे वाद-विवादके बाद भी उभयपक्षके बहुत कुछ अनुचित प्रयत्नों द्वारा परस्पर कटुता बढ़नेके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं हुआ है। और यही कारण है कि इस तथ्यहीन वाद-विवादसे ऊबकर 'जैनमित्र' के सम्पादक महोदयको बाध्य होकर यह लिखना पड़ा है कि इस विवादसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी लेखको 'जैनमित्र' में स्थान नहीं दिया जायगा।

तात्पर्य यह है कि कोई भी विषय जब पक्ष और विपक्षके झमेलेमें पड़ जाता है तो वहाँ विचारकी दृष्टि जाती रहती है और मान-अपमानका प्रश्न खड़ा हो जाता है, इसलिये उभय पक्षकी ओरसे प्रधानतया अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखने तथा दूसरे पक्षका प्रभाव नष्ट करनेका ही प्रयत्न होने लगता है। दूसरे-दूसरे बाह्य कारणोंके साथ यह एक अतरंग कारण है कि इस विषयमें हम अभी तक मौन रहते आये हैं। लेकिन आज हम जो अपने विचारोंको नहीं दबा सक रहे हैं उसका कारण यह है कि हमारे सामने एक तो श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका वह लेख है जो उन्होंने श्री प्रेमीजीके "अन्यायका प्रमाण मिल गया" शीर्षक लेखके ऊपर जैनमित्रमें लिखा है और दूसरे दिगम्बर जैन समाज बम्बईकी ओरसे प्रकाशित दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पणके वे दोनों भाग हैं जिनमें भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा श्री प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्य तथा दूसरे वक्तव्योंके विरोधमें लिखे गये लेखोंका संग्रह है।

श्री प्रेमीजीने अपने उक्त लेखमें यह लिखा था कि सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें प्रोफेसर साहबने लेखकोंकी गलतीसे 'संयत' पद छूट जानेकी जो कल्पना की है वह सही है और वह पद मूडबिद्रीकी प्रतिमें मौजूद है। इसपर श्री मुख्तारसाहबने अपने लेखमें कई आनुषंगिक शंकायें उपस्थित की हैं और उनके निराकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेके लिये प्रेरणा करते हुए कुछ उपाय भी सुझाये हैं। और हमें विश्वास है कि श्री मुख्तार साहब भी स्वप्नमें यह नहीं सोच सकते हैं कि प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियों द्वारा मूड़बिद्रीकी प्रतिमें संयत-पद जोड़नेका अनुचित प्रयत्न किया गया होगा, परन्तु संदेह पैदा होनेके कारणभूत जिन दलीलोंका श्री मुख्तार साहबने अपने लेखमें संकेत किया है वे इतनी स्वाभाविक हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। हम आशा करते हैं कि संबंधित महानुभावोंका ध्यान श्री मुख्तार साहबके लेख पर पहुँचा होगा और उन्होंने संदेह निवारण करनेके लिये प्रयत्न चालू कर दिया होगा।

हम मानते हैं कि उक्त संदेह श्री प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियोंकी नीयत पर भयंकर हमला है परन्तु जब मनुष्य किसी भी वाद-विवादके दलदलमें फँस जानेपर अपनी प्रामाणिकताको सुरक्षित रखनेके महत्त्वको भूल कर स्वार्थ और अभिभावकी पुष्टिके लिये उदारता और सहिष्णुताके मार्गको छोड़ देता है तो उसकी नीयत पर ऐसे भयंकर हमलोंका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। और हमें कहना पड़ रहा है कि साधारण समाजने प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध अपनी जो भावना प्रदर्शित की है वह तो किसी रूपमें उचित मानी जा सकती है परन्तु समाजके विचारोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले विषयके विद्वानोंने तथा श्री प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियोंने निश्चित ही अपनी जवाबदारी यथोचित रीतिसे नहीं निबाही है।

जब श्री प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध दिगम्बर समाजमें आवाज उठी तो उन्होंने यह कह-कर उस आवाजको दबानेकी कोशिश की, कि उन्होंने वह वक्तव्य जिज्ञासुभावसे प्रेरित होकर प्रकट किया है, उनकी मंशा दिगम्बर मान्यताओं पर चोट करनेकी नहीं है। प्रोफेसर साहबकी मंशा भले ही दिगम्बर मान्यताओं पर चोट करनेकी न हो, परन्तु उनका वक्तव्य दिगम्बर मान्यताओंका स्पष्ट खण्डन है, इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता है। हमें प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यमें ऐसा एक भी वाक्य नहीं मिल रहा है जो उनके जिज्ञासुभावको प्रदर्शित कर रहा हो। इसलिये वक्तव्य प्रकट करनेके बाद दिगम्बर समाजको सान्त्वना देनेके लिये प्रोफेसर साहब द्वारा लुभावने शब्दोंका प्रयोग हमारी समझके अनुसार निरर्थक ही नहीं बल्कि अनुचित जान पड़ता है।

इसी प्रकार कहना होगा कि श्री प्रेमीजीके लेखका "अन्यायका प्रमाण मिल गया" यह शीर्षक उनके स्वगत अभिमान और विरोधी पक्षके प्रति रोष एवं तिरस्कारका ही सूचक है। हमारा यह भी खयाल है कि प्रोफेसर साहब व पं० फूलचन्द्रजीके बीच चल रही उक्त वक्तव्यसे संबद्ध तत्त्वचर्चाका बीच में ही पं० फूलचन्द्रजीसे बिना पूछे ही स्वतंत्र पुस्तकके रूपमें प्रकाशित कर देना श्री प्रेमीजी जैसे गण्यमान्य व्यक्तिके लिये शोभास्पद बात नहीं है।

हमें अच्छी तरह याद है कि गतवर्ष कलकत्तामें वीर-शासन महोत्सवके अवसरपर प्रोफेसर साहब-के उक्त वक्तव्यपर उभय पक्षकी ओरसे जिस तत्त्वचर्चाका आयोजन किया गया था वह तत्त्वचर्चा उस आयोजनके लिये निर्णीत सभापतिके संचालनकी ढिलाईके कारण अनावश्यक और अनुचित शास्त्रार्थका रूप धारण कर गयी थी और उपस्थित समाजको अपनी ओर आकर्षित करना तथा अपने विपक्षका किसी तरह मुख बन्द करना ही उसका प्रधान लक्ष्य हो गया था। हम मानते हैं कि इसमें अधिक अपराधी वक्तव्यके विरुद्ध बोलनेवाली पार्टीको ही ठहराया जा सकता है।

हमें पं० हीरालालजीके "प्रोफेसर साहबके वक्तव्य पर मेरा स्पष्टीकरण" शीर्षक वक्तव्यको देखकर महान आश्चर्य हुआ कि ग्रन्थके सम्पादक होते हुए भी सूत्रमें 'संयत' पद जोड़नेकी अपनी जवाबदारीसे हटनेके लिये उन्होंने अनुचित, असोचनीय और असफल प्रयत्नको अपनाया है। तथा यह देख कर तो और भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्चर्य हुआ कि बम्बईकी दिगम्बर समाजने इस सारहीन वक्तव्यका प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरुद्ध प्रकाशित पुस्तकमें उपयोग करना उचित समझा है। क्या पं० हीरालालजीने ग्रन्थ प्रकाशित हो जानेके बाद उस टिप्पणीको नहीं देखा होगा ? और जिस वाक्यांशका उनकी दृष्टिसे भ्रामक अर्थ छपा है उसके बारे में क्या वे फुटनोट द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकते थे ? यदि उन्हें ऐसा नहीं करने दिया गया हो, तो वे समाचारपत्रों द्वारा अपनी सम्मति उसी समय समाज पर प्रकट नहीं कर सकते थे ? उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसका अर्थ यह करना अनुचित नहीं माना जायगा कि पं० हीरालाल जी "जैसी चले बयार पीठ पुनि तैसी दीजै"की नीतिका अनुसरण करना जानते हैं। इसी तरह बम्बईकी दिगम्बर जैन समाजको भी कहा जा सकता है कि उसने श्री पं० हीरालालजीके उक्त स्पष्टीकरणको प्रोफेसर साहबके विरुद्ध हथियार बनाकर 'अर्थी दोषं न पश्यति' की नीतिको चरितार्थ किया है।

उभय पक्षकी ऐसी बहुत-सी मिसालें यहाँ पर उद्धृत की जा सकती हैं, जिन्होंने विषयको निष्कर्ष पर पहुँचानेकी अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचाई है। विचार-विनिमयसे उभय पक्षको जितना एक-दूसरेके निकट आना चाहिए था उक्त दूषित नीतिका अनुसरण करनेके कारण वे उतनी ही दूरी पर चले गये हैं। और यह सभीके लिये अत्यन्त खेदकी बात होना चाहिये, कारण कि ऐसी प्रवृत्तियोंसे उभय पक्षका गौरव नष्ट होता है और सर्वसाधारणके अहितकी सम्भावना रहती है। इसीलिये हमने यहांपर संक्षेपमें उभय पक्षकी दूषित मनोवृत्तिकी परिचायक कुछ प्रवृत्तियोंका संकेत किया है, ताकि उभय पक्ष अज्ञान, प्रमाद अथवा और किसी हेतुसे की गयी अपनी दूषित प्रवृत्तियोंकी ओर दृष्टिपात कर सके तथा अपनी बौद्धिक शक्तिका उपयोग धर्म, संस्कृति और समाजके हितसाधनमें कर सके। हम आशा करते हैं कि जब तक प्रोफेसर साहबके वक्तव्यमें निर्दिष्ट विवाद-ग्रस्त विषय एक निष्कर्ष पर न पहुँचा दिये जायें, तब तक उभय पक्षकी चर्चा व्यक्तिको छोड़कर विषय तक ही सीमित रहेगी।

बम्बईकी दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे प्रोफ़ेसर साहबके वक्तव्यके विरुद्ध यद्यपि हमारे सामने मौजूदा दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। परन्तु इतने मात्रसे दिगम्बर समाजका उद्देश्य सफल नहीं हो सका है और हमारी धारणा है कि इस प्रकारके प्रयत्नों द्वारा कभी भी उद्देश्यमें सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती है। हमारी राय है कि उद्देश्यकी सफलताके लिये उभय पक्षकी ओरसे सिलसिलेवार उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप चलनेवाली एक लेखमालाकी ही स्वतन्त्र व्यवस्था होना चाहिये। हमारी हार्दिक इच्छा है कि इस प्रकारकी व्यवस्था करनेका भार विद्वत् परिषदको अपने ऊपर ले लेना चहिये, साथ ही उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रोफ़ेसर साहबके साथ इस विषयके निर्णयमें भाग लेनेके लिये दिगम्बर समाजकी ओरसे कुछ विद्वानोंकी एक उपसमिति कायम करें और कोई भी विद्वान प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरोधमें जो कुछ लिखे, वह इस उपसमितिकी देखरेखमें ही प्रकाशित हो, क्योंकि प्रायः सभी विद्वानोंमें किसी-न-किसी उद्देश्यको लेकर कुछ-न-कुछ लिखनेकी आकांक्षा पैदा होना स्वाभाविक बात है और यदि एक ही पक्षका समर्थन करनेवाले दो विद्वान एक ही विषयमें अज्ञान अथवा प्रमादकी वजहसे भिन्न-भिन्न विचार प्रगट कर जाते हैं तो विषयका निर्णय करना बहुत ही जटिल हो जाता है। हम देखते हैं कि पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार और पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई (जिन्हें स्वयं अपनी विद्वत्तापर पूर्ण विश्वास है और समाज भी योग्य विद्वानोंमें जिनकी गणना करती है) अपने लेखोंमें षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रकी धवला-टीकाके कुछ अंशोंका परस्पर भिन्न अनुवाद कर गये हैं और प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरोधमें बम्बई दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे प्रकाशित दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पणके दोनों भागोंका सम्पादन करते समय भी इसकी ओर लक्ष्य नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखा गया है। आज यदि इसका स्पष्टीकरण किया जाता है तो बहुत कछ सम्भव है कि ये दोनों विद्वान भी अपनी-अपनी ज़िदपर अड़ सकते हैं। इसलिये विषयके निर्णयके लिये सीधा और उपयुक्त मार्ग यही है कि विद्वत् परिषद् कुछ चुने हुए विद्वानोंकी एक उपसमिति कायम करे। हम आशा करते हैं विद्वत् परिषद्का ध्यान हमारे इस सुझावकी ओर अवश्य जायगा।

पं० मक्खनलालजी व पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके ऊपर निर्दिष्ट अनुवाद-भेदका स्पष्टीकरण तथा उक्त सूत्रमें 'संयत' पदकी आवश्यकता और अनावश्यकतापर विचार किया जायेगा।

पहले किये गये संकेतके अनुसार यहाँपर हम शीर्षकके अन्तर्गत निर्दिष्ट सूत्रकी धवलाटीकाके पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार और पं० रामप्रसादजी शास्त्री द्वारा किये गये परस्पर-भिन्न हिन्दी अनुवादोंपर विचार करते हुए सूत्रमें 'संयत' पदको आवश्यक्ता और अनावश्यक्तापर यहाँ अपना विचार प्रकट करेंगे।

धवलाटीकाका वह मूल अंश, जिसके हिन्दी अनुवादमें उक्त उभय विद्वानोंका मतभेद बतलाया गया हैं, मुद्रित प्रतिमें निम्न प्रकार पाया जाता है—

> "हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धचेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान-गुणास्थितानां संयमानुपपत्तेः।"

इसका हिन्दी अनुवाद मुद्रित प्रतिमें निम्न प्रकार पाया जाता है—

शंका—हुण्डावसर्पिणी काल संबन्धी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है?

समाधान—इसी आगम प्रमाणसे जाना जाता है।

शंका—तो इसी आगमप्रमाणसे द्रव्यस्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

पं० मक्खनलालजीने धवलाटीकाके उक्त अंशका हिन्दी अनुवाद करते हुए मुद्रित प्रतिके इस अनुवादको पूर्णतः सही माना है, परन्तु पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने वाक्यविन्यासको गलतीके आधारपर इस अनुवादको गलत माना है और अपना भिन्न ही अभिप्राय प्रकट किया है। उनकी दृष्टिके अनुसार इस अंशकी स्थिति निम्न प्रकार है—

> "हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेत् नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्, अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां न निर्वृतिः। सिद्धचेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान-गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।"

मुद्रित प्रतिके उक्त अंशसे इसमें एक तो वाक्यविन्यासकी विशेषता है और दूसरे 'द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः'-के स्थानपर 'द्रव्यस्त्रीणां न निर्वृतिः' ऐसा पाठभेद स्वीकार किया गया है तथा इसका जो हिन्दी अनुवाद पं० रामप्रसादजीको मान्य है उसको निम्न प्रकारसे प्रकट किया गया है—

शंका—हुण्डावसर्पिणीकालदोषके प्रभावसे स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्या नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान—नहीं उत्पन्न होते हैं।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान—इसी (९३वें) ऋषिप्रणीत आगमसूत्रसे जाना जाता है और इसी (९३वें) ऋषिप्रणीत आगमसूत्रसे यह भी जाना जाता है कि द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष नहीं होता है।

शंका—द्रव्यस्त्रियोंको मोक्ष तो सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होनेसे वे संयतासंयत गुणस्थानमें स्थित रहती हैं, इसलिये उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

पाठक देखेंगे, कि दोनों प्रकारका हिन्दी अनुवाद उत्तरोत्तर तीन शंका-समाधानोंमें विभक्त है। इनमें-से पं० रामप्रसादजी शास्त्री द्वारा धवलाटीकाकी मुद्रित वाक्ययोजनाको बदल कर किये गये अनुवादके पहले शंकासमाधानरूप भागसे हम भी सहमत हैं क्योंकि हुण्डावसर्पिणीकालदोषके प्रभावसे परंपराविरुद्ध कार्य तो हो सकते हैं परन्तु उनसे करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीत सिद्धान्तोंका अपलाप नहीं हो सकता है, कारण संपूर्ण काल, संपूर्ण क्षेत्र, सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण अवस्थाओंको ध्यानमें रखकर करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीत सिद्धान्तोंपर कालविशेष, क्षेत्रविशेष, द्रव्यविशेष और अवस्थाविशेषका प्रभाव नहीं पड़ सकता है। इसलिये जब करणानुयोगका यह नियम है कि कोई प्राणी सम्यग्दर्शनकी हालतमें मर कर स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता है तो हुण्डावसर्पिणीकालका दोष इसका अपवाद नहीं हो सकता है। इस प्रकार पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके साथ-साथ हमारी भी यह मान्यता है कि मुद्रित प्रतिमें धवलाटीकाके इस अंशकी वाक्ययोजना निश्चित करने और उसका हिन्दी अनुवाद करनेमें गलती कर दी गई है और पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार भी अपने अनुवादमें उस गलतीको दुहरा गये। परन्तु आगे पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने मुद्रित प्रतिमें स्वीकृत धवला टीकाके 'द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः' इस वाक्यांशके स्थानपर 'न' पद जोड़कर 'द्रव्यस्त्रीणां न निर्वृतिः' इस वाक्यांशको स्वीकार करके वाक्ययोजना बदलने और उस बदली हुई वाक्ययोजनाके आधारपर हिन्दी अनुवाद करनेका जो प्रयास किया है उसमें एक तो अनुवाद करते समय अधिक खींचातानी करनी पड़ी है, दूसरे उनके अभिप्रायकी पुष्टिके लिये इसे हम उनका द्राविड़ीय प्राणायामका अनुसरण कह सकते हैं और तीसरे उनका यह प्रयास निरर्थक भी है।

इनमेंसे अनुवाद करते समयकी खींचातानी तो यहाँपर स्पष्ट ही है क्योंकि धवलाटीकाके इस अंशका जो अभिप्राय अनुवादद्वारा पं० रामप्रसादजी शास्त्री निकालना चाहते हैं उसके अनुकूल वाक्यरचनाका धवलाटीकामें अभाव है। यदि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां न निवृतिः' इस वाक्यको सिद्धान्तपरक मानकर सिर्फ 'सिद्धयेत्' इस क्रियारूप वाक्यको ही आक्षेपपरक माना जाय तो वाक्यरचनामें अधूरेपनका अनुभव होने लगता है जो कि अनुचित है।

द्राविड़ीय प्राणायामका अनुसरण हम इसलिये कहना चाहते हैं कि पं० रामप्रसादजी शास्त्री 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां न निवृतिः' इस वाक्यसे उक्त ९३वें सूत्रमें 'संयत' पदके अभावके आधारपर दिगंबर संप्रदायको मान्य 'द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्तिका अभाव' प्रस्थापित करना चाहते हैं और 'सिद्धयेत्' इस वाक्यसे क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणाके आधारपर दिगम्बर संप्रदायकी उक्त मान्यतापर आक्षेप उपस्थित करना चाहते हैं, जिसका समाधान 'सवासत्वात्–' आदि पंक्ति द्वारा किया गया है। लेकिन इस विषयमें हमारा कहना यह है कि यदि पं० रामप्रसादजी शास्त्रीको यह अर्थ अभीष्ट है तो इसके लिये 'द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः'के स्थानपर 'द्रव्यस्त्रीणां न निवृतिः' इस पाठको मान कर एक ही वाक्यमें दो वाक्योंकी कल्पना करनेके कष्टसाध्य प्रयत्नके करनेकी उन्हें क्या जरूरत है ? क्योंकि 'अस्मादेवार्षाद्' इस वाक्यांशको सूत्रपरक न मानकर यदि सूत्रोंके समूहरूप ग्रन्थपरक मान लिया जाय और इसका अर्थ इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषिप्रणीत ९३वें सूत्रसे' इस प्रकार न करके 'इसी ऋषिप्रणीत आगमग्रन्थसे अर्थात् क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणा द्वारा' इस प्रकार मान लिया जाय, तो उसके लिये अभीष्ट 'संयत-पदका अभाव' भी सूत्रमें बना रहता है और 'न' पद जोड़ कर एक वाक्यमें दो वाक्योंकी कल्पना भी उन्हें नहीं करनी पड़ती है। केवल 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेत्' इस संपूर्ण वाक्यको आक्षेपपरक एक वाक्य मान करके पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके अभिप्रायानुसार 'इसी आगमग्रन्थसे अर्थात् क्षेत्रानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणा द्वारा द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्तिका प्रसङ्ग हो सकता है'। इस प्रकारके प्रकरणगत अर्थकी संगति बैठ जाती है। परन्तु पं० रामप्रसादजी शास्त्रीकी 'अस्मादेवार्षाद्' इस वाक्यको सूत्रोंके समूहरूप ग्रन्थपरक न मान कर केवल सूत्रपरक मानते हुए उसका 'इसी ९३वें सूत्ररूप आगम-प्रमाणसे' ऐसा अर्थ करना [जो कि हमारी रायमें भी ठीक अर्थ है] इसलिये अभीष्ट है कि वे इसी आधारपर इस ९३वें सूत्रमें विवादग्रस्त 'संयत' पदका अभाव सिद्ध करना चाहते हैं। लेकिन हमारी रायसे वे इसमें भी सफल नहीं हो सकते हैं।

पं० रामप्रसादजी शास्त्रीका खयाल है कि क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदिकी मनुष्यप्ररूपणाओंमें केवल मनुष्यणी शब्द पाया जाता है इसलिये उन सूत्रोंमें इसका अर्थ भावस्त्री करना चाहिये और सत्प्ररूपणा के ९३ वें सूत्रमें मनुष्यणी शब्दका अर्थ द्रव्यस्त्री करना चाहिए, परन्तु उनका यह ख्याल गलत है क्योंकि सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि सभी प्ररूपणाओंमें 'मनुष्यणी' शब्दका अर्थ समानरूपसे पर्याप्तनामक कर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव' ही मुक्ति-पात्र तथा आगमसम्मत है और मनुष्यणी संज्ञावाले इस जीवके ही ९२ वें और ९३ वें सूत्रों द्वारा यदि वह निर्वृत्यपर्याप्तक हालतमें है तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थानोंकी और यदि वह निर्वृत्यपर्याप्तक हालतको पारकर गया हो तो उसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ आदि सभी गुणस्थानोंकी संभावना बतलाई गई है। सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें 'मनुष्यणी' शब्दसे यदि सिर्फ द्रव्यस्त्रीको ही ग्रहण किया जाता है तो जो जीव दिगम्बर मान्यताके अनुसार द्रव्यसे पुरुष और भावसे स्त्री है उसका ग्रहण उक्त सूत्रमें पठित मनुष्यणी शब्दसे न हो सकनेके कारण उसकी निर्वृत्यपर्याप्तक हालतमें चतुर्थ गुणस्थानके प्रसंगको टालनेके लिये आगमका कौनसा आधार होगा, कारण कि दिगम्बर मान्यताके अनुसार कर्मसिद्धांतके आधारपर स्त्रीवेदोदयविशिष्ट पुरुषके भी निर्वृत्य-पर्याप्तक हालतमें चतुर्थ गुणस्थान नहीं स्वीकार किया जाता है। इसलिये आगमग्रथोंमें जहां भी मनुष्यणीशब्द-का उल्लेख पाया जाया है वहांपर उसका अर्थ 'पर्याप्तनामकर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव ही करना चाहिये। ऐसा अर्थ करनेमें सिर्फ एक यह शंका अवश्य उत्पन्न होती है कि स्त्री-वेदोदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाले जीवके अधिक-से-अधिक नौ (९) गुणस्थान तक हो सकते हैं। इसलिये इस जीवके १४ गुणस्थानोंका कथन करना असंगत और आगमविरुद्ध है। लेकिन इसका समाधान उक्त ९३वें सूत्रकी धवला टीकामें कर दिया गया है कि यहाँपर मनुष्यगतिनामकर्मका उदय प्रधान है और स्त्रीवेद-नोकषायका उदय इसका विशेषण है। इसलिये विशेषणके नष्ट हो जानेपर भी विशेष्यका सद्भाव बना रहनेके कारण ही मनुष्यणीके १४ गुणस्थानोंकी सम्भावना बतलायी गयी है।

इस प्रकार जब उक्त ९३वें सूत्रमें 'मनुष्यणी' शब्दसे स्त्रीवेदोदयविशिष्ट द्रव्यपुरुषका ग्रहण भी अभीष्ट है तो क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणावाले सूत्रोंके साथ सामञ्जस्य बिठलाने-के लिये इस सूत्रमें भी संयतपदका सद्भाव अनिवार्य रूपसे स्वीकार करना पड़ता है और तब पं० राम-प्रसादजी शास्त्रीने उक्त ९३वें सूत्रमें संयतपदका अभाव सिद्ध करनेके लिये जिन दलीलोंका उपयोग किया है वे सब निःसार हो जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने लेखके परिशिष्टमें पं० रामप्रसादजी शास्त्री एक और गलती कर गये हैं। उन्होंने अपनी ऊपर बतलायी हुई कल्पनाको गौण करके वहाँपर एक दूसरी ही कल्पनाको जन्म दिया है। वे कहते हैं कि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणाँ निर्वृत्तिः सिद्धचेदिति चेन्न' इस पंक्तिमें द्वितकारवाले 'निर्वृत्ति' शब्दका अर्थ मुक्ति नहीं है बल्कि निष्पत्ति है। हम नहीं समझते कि 'निर्गता नष्टा नृत्तिर्वर्तनं संसारभ्रमणमित्यर्थः' इस व्युत्पत्ति के आधारपर द्वितकारवाले निर्वृत्ति शब्दका अर्थ 'मुक्ति' करनेमें उन्हें क्या आपत्ति है और फिर श्रीवीरसेन स्वामीने द्वितकारवाले 'निर्वृत्ति' शब्दका पाठ न करके एक तकारवाले 'निर्वृति' शब्दका पाठ किया हो, इस सम्भावनाको कैसे टाला जा सकता है? यद्यपि वाक्यविन्यासको तोड़-मरोड़ करके पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने इस बातकी कोशिश की है कि श्री वीरसेन स्वामीको वहांपर द्वितकारवाले 'निर्वृत्ति' शब्दका पाठ ही अभीष्ट है, परन्तु हम कहेंगे कि पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने इस प्रयत्नमें विशुद्ध वैयाकरणत्वका ही आश्रयण किया है क्योंकि उनकी अपने ढंगसे वाक्योंकी तोड़मरोड़ करनेकी कोशिशके बाद भी वे अपने उद्देश्यके नजदीक नहीं पहुँच सकते हैं अर्थात् पहले कहा जा चुका है कि मनुष्यणी शब्दका अर्थ पर्याप्तनामकर्म और स्त्रीवेदनोकषायके उदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव ही आगमग्रन्थोंमें लिया गया है और वह द्रव्यसे स्त्रीकी तरहसे द्रव्यसे पुरुष भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यणी' शब्दका अर्थ स्त्रीवेदनोकषायके उदयसहित द्रव्यस्त्रीकी तरह स्त्रीवेदनोकषायके उदयसहित द्रव्यपुरुष भी होता है और यही अर्थ समानरूपसे सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंमें 'मनुष्यणी' शब्दका है ऐसा समझना चाहिये। इस तथ्यको समझनेके लिये सम्बद्ध सूत्रों तथा उनकी धवला टीकाका गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करनेकी जरूरत है। सम्बद्ध सूत्रों और उनकी धवला टीका गम्भीरतापूर्वक चिन्तन न करनेका ही यह परिणाम है कि पं० रामप्रसादजी शास्त्री और भी बहुत-सी आलोचनाके योग्य बातें अपने लेखमें लिख गये हैं, जिनपर विचार करना यहाँ पर हम अनावश्यक समझते हैं।

बहुत विचार करनेके बाद हमने श्री पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके उनके अपने लेखमें गलत और कष्टसाध्य प्रयत्न करनेका एक ही निष्कर्ष निकाला है और वह यह है कि वे इस बातसे बहुत ही भयभीत हो गये हैं कि यदि सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें 'संयत' पदका समावेश हो गया तो दिगम्बर सम्प्रदायकी नीव ही चौपट हो जायगी। परन्तु उन्हें विश्वास होना चाहिये कि ९३वें सूत्रमें संयतपदका समावेश हो जानेपर भी न केवल स्त्रीमुक्तिका निषेधविषयक दिगम्बर मान्यताको आंच आनेकी सम्भावना नहीं है अपितु षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्रकरणगत सूत्रोंमें परस्पर सामञ्जस्य भी हो जाता है।

हमारे इस कथनका मतलब यह है कि मूडबिद्रीको प्राचीनतम प्रतिमें भी संयत पद मौजूद हो, या न हो, परन्तु सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें उसकी (संयतपदकी) अनिवार्य आवश्यकता है, हर हालतमें वह अभीष्ट है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें परस्पर जो मतभेद है वह पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थान न मानने अथवा माननेका नहीं है क्योंकि पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोंकी मान्यता उक्त दोनों सम्प्रदायोंमेंसे किसी एक सम्प्रदायकी मान्यता नहीं है बल्कि जैनधर्मकी ही मूल मान्यता है और इस मान्यताको उभय सम्प्रदायोंने समान रूपसे अपनी-अपनी मान्यतामें स्थान दिया है। इन दोनों सम्प्रदायोंमें जो मतभेद है वह इस बातका है कि जैनधर्ममें पर्याप्त मनुष्यणीके जो चौदह गुणस्थान स्वीकार किये गये हैं वे जहाँ दिगम्बर सम्प्रदायोंमें पर्याप्त मनुष्यणीशब्दसे व्यवहृत स्त्रीवेदनोकषायके उदयवाले द्रव्यसे पुरुषके ही संभव माने गये हैं वहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें पर्याप्तमनुष्यणीशब्दसे व्यवहृत स्त्रीवेदनोकषायके उदयवाले द्रव्यसे स्त्रीके भी संभव माने गये हैं और इस मतभेदका मूल कारण यही जान पड़ता है कि दिगम्बर संप्रदायमें वस्त्रग्रहणको संयमका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घातक स्वीकार किया गया है जबकि श्वेताम्बर संप्रदायमें उसे (वस्त्रग्रहणको) संयमका घातक स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिये द्रव्यस्त्रीके चौदह गुणस्थान हो सकते हैं या नहीं ? इस प्रश्नका निर्णय इस प्रश्नके निर्णयपर अवलंबित है कि वस्त्रग्रहणके साथ संयमका सद्भाव रह सकता है या नहीं ?

जो विद्वान् वेदवैषम्यके आधारपर द्रव्यस्त्रीके संयम तथा मुक्तिकी निषेधविषयक दिगम्बर-मान्यता का समर्थन करना चाहते हैं वे भी हमारी रायसे इस तरहसे दिगम्बर संप्रदायमें मान्य 'द्रव्यस्त्रीके संयम तथा मुक्तिके अभाव' का समर्थन नहीं कर सकते हैं, कारण कि द्रव्यस्त्रीके संयम तथा मुक्तिका निषेध विषयक मान्यताके सद्भावमें दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार वेदवैषम्यके आधारपर जैनधर्मकी 'पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोंकी प्राप्ति विषयक मूल्यमान्यता'का समन्वय तो किया जा सकता है परन्तु इसके (वेदवैषम्यके) आधारपर यह तो किसी हालतमें नहीं कहा जा सकता है कि द्रव्यस्त्रीके आदिके पाँच गुणस्थानोंको छोड़कर ऊपरके प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थान नहीं हो सकते हैं।

इसी प्रकार प्रोफ़ेसर हीरालालजीके बारेमें भी हम यह निवेदन कर देना उचित समझते हैं कि भले ही षट्खण्डागमग्रन्थमें द्रव्यस्त्रीके लिये आदिके पाँच गुणस्थान तक प्राप्त कर सकनेका स्पष्ट उल्लेख न हो, परन्तु वहाँपर ऐसा उल्लेख भी तो स्पष्ट नहीं है कि द्रव्यस्त्रीके भी चौदह गुणस्थान हो सकते हैं, इसलिये षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रकी धवलाटीका कितनी ही अर्वाचीन क्यों न हो, उसे षट्खण्डागमके आशयके विपरीत आशयको प्रकट करनेवाली तो किसी भी हालतमें नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार षट्खण्डागमग्रन्थमें बतलायी गयी मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोंकी प्राप्तिका अर्थ वेदवैषम्यकी असंभवताके आधारपर 'द्रव्यस्त्रीके चौदह गुणस्थानोंकी प्राप्ति' आगमकी मान्यता न होकर प्रोफ़ेसर सा० की ही मान्यता कही जा सकती है क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें जब वेदवैषम्य स्वीकर किया गया है तो इसपर (वेदवैषम्यकी असंभवतापर) आगमकी छाप किसी भी हालतमें नहीं लगाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि 'वेदवैषम्य संभव है या नहीं ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जैसे कि 'शरीरसे भिन्न जीव नामका कोई स्वतंत्र पदार्थ है या नहीं ?' 'जीवकी मुक्ति होती है या नहीं ?' 'स्वर्ग, नरक आदि वास्तविक हैं या काल्पनिक ?' आदि प्रश्न हैं क्योंकि इन प्रश्नोंके समान ही यह प्रश्न भी आगमको संदिग्ध कोटिमें रख देनेके बाद ही उठ सकता है। इसलिये इस प्रश्नके बारेमें विचार करना मानों वेदवैषम्यको मानने वाला आगम प्रमाण है या अप्रमाण ? इस प्रश्नके बारेमें ही विचार करना है। यद्यपि इस प्रश्नपर विचार करनेको हम बुरा नहीं समझते हैं परन्तु इस लेखके लिखते समय हमारे भतीजे श्री पं० बालचन्द्रजी शास्त्री सह–सम्पादक धवलाके द्वारा हमें जो सिद्धान्त-समीक्षा भाग १-२ प्राप्त हुए हैं उनमेंसे पहले भागके ऊपर दृष्टि डालनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि वेदवैषम्य सम्भव है या नहीं ? इस प्रश्नके विचारके झमेलेमें पड़कर 'द्रव्यस्त्रीको मुक्ति हो सकती है या नहीं ?' यह प्रश्न सर्वसाधारणके लिये और भी जटिल बन गया है।

हम पहले कह आये हैं कि द्रव्यस्त्रीके छठा आदि गुणस्थान हो सकते हैं या नहीं ? इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये संयमके लिये वस्त्रत्याग आवश्यक है या नहीं ? इस प्रश्नका समाधान हो जाना ही साधारण जनताके लिये सीधा और सरल उपाय है। यद्यपि विद्वानोंने इस प्रश्नपर भी बहुत कुछ विचार किया है और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारसका 'भगवान महावीरका अचेलक धर्म' शीर्षक ट्रैक्ट इस विषयका काफ़ी महत्त्वपूर्ण ट्रैक्ट माना जाता है। परन्तु अभी तक इस विषयका उभय-पक्षसम्मत कोई निर्णय सामने नहीं है। इस विषयमें हमारे विचार निम्न प्रकार हैं—

शरीरके सद्भावकी तरह वस्त्रके सद्भावमें भी संयम रह तो सकता है परन्तु वस्त्रग्रहण उसका विरोधी अवश्य है, कारण कि ग्रहणका अर्थ स्वीकृति है और जहाँ वस्त्रकी स्वीकृति मौजूद है वहाँ वस्त्रसम्बन्धी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंयम मानना ही चाहिये। इस वस्त्रसम्बन्धी असंयमके लिये शेष संयमकी पूर्णता रहते हुए श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यताको ध्यानमें रखते हुए हम छठे गुणस्थानका जघन्य रूप कह सकते हैं और दिगम्बर मान्यताको ध्यानमें रखते हुए पंचम गुणस्थानका उत्कृष्ट रूप कह सकते हैं। इन दोनों मान्यताओंमें वास्तविक अन्तर कुछ भी नहीं रह जाता है। केवल पाँचवें गुणस्थानकी अन्तभूत और छठे गुणस्थानकी आदिभूत मर्यादा बाँधनेका बाह्य अन्तर दोनों सम्प्रदायोंके बीच रह जाता है।

वस्त्रको संयमका विरोधी न मानकर वस्त्रग्रहणको ही संयमका विरोधी माननेका हमारा मतलब यह है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भी चेलोपष्सृट मुनिके संयमका अभाव नहीं स्वीकार किया गया है। तथा मिथ्यात्व-व्रतरहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनके साथ-साथ देशव्रतकी अवस्थाओंमें संयमकी ओर अभिमुख होनेवाले व्यक्तिके जहाँ प्रथम ही सातवें गुणस्थानकी प्राप्ति बतलाई गयी है वहाँ वस्त्रत्यागकी अनिवार्यता नहीं मानी गयी है। इसका मतलब यह है कि सातवें गुणस्थानकी प्राप्ति सवस्त्र हालतमें दिगम्बर मान्यताके अनुसार भी असंभव नहीं है, तो फिर सवस्त्र हालतमें छठे गुणस्थानकी प्राप्तिका निषेध दिगम्बर सम्प्रदाय क्यों करता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि चौदह गुणस्थानोंमेंसे दूसरे, तीसरे और सातवेंसे लेकर बारहवें तक तथा चौदहवें इन गुणस्थानोंका जितना वर्णन किया गया है वह भावाधारपर किया गया है और पहला, चौथा, छठा तथा तेरहवाँ इन गुणस्थानोंका कथन व्यवहाराश्रित है, क्योंकि इन गुणस्थानोंका कथन व्यक्तिके अन्तरंग भावोंका कार्यस्वरूप बाह्य प्रवृत्तिके आधारपर किया गया है, इसलिये दिगम्बर सम्प्रदायकी यह मान्यता युक्तियुक्त है। वस्त्रकी स्वीकृति रहते हुए भावापेक्षासे भी सकलसंयम नहीं रह सकता है। परन्तु जहाँ वस्त्रकी स्वीकृति रहते हुए भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय सकलसंयमकी प्राप्तिको स्वीकार करता है वहाँ दिगम्बर सम्प्रदायकी भी यह मान्यता है कि वस्त्रके सद्भावमें भावापेक्षया भी सकलसंयम नहीं रह सकता है। तात्पर्य यह है कि सवस्त्र हालतमें व्यवहाराश्रित षष्ठ गुणस्थानकी सम्भावनाको तो किसी तरह टाला जा सकता है परन्तु सप्तम आदि गुणस्थानोंकी सम्भावना अनिवार्य रूपसे जैसीकी तैसी बनी रहती है और इसका अर्थ यह है कि द्रव्यस्त्रीके लिये भी उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी आदि चढ़नेका कोई विरोध नहीं होना चाहिये, परन्तु 'कर्मभूमिज स्त्रियोंके अन्तके तीन ही संहनन हो सकते हैं' यह आगम इसमें बाधक हो सकता है, इसलिये इस आगमकी प्रमाणताके लिए आज वैज्ञानिक शोधकी आवश्यकता है।

केवली-कवलाहारके बारेमें विचार करनेका अर्थ है जैन धर्ममें मानी हुई सर्वज्ञकी परिभाषाके बारेमें विचार, कारण कि ये दोनों (कवलाहार और जैन धर्मोक्त सर्वज्ञता) परस्पर-विरोधी ही माने जा सकते हैं, इसलिये जो विद्वान् तत्त्वनिर्णयकी दृष्टिसे इस विषयमें प्रविष्ट हों उन्हें इस मूल बातको पहले ध्यानमें रख लेना चाहिये। हमने इस विषयमें अभी तक जितना विचार किया है उसमें यह निर्णय नहीं कर पाये हैं कि केवलीके कवलाहार माना जाय या जैन धर्मोक्त सर्वज्ञता।

अन्तमें हमारा निवेदन यह है कि इन विषयों पर या इसी तरहके और भी विषयों पर जितना भी विचार किया जाय वह सब तत्त्वनिर्णायक द्रव्यानुयोगकी दृष्टि है। इससे सर्व साधारणको लाभ और अलाभका सीधा सम्बन्ध नहीं है। सर्व साधारणके लाभ और अलाभका सम्बन्ध तो आध्यात्मिक करणानुयोगकी दृष्टिसे ही है। इसलिये न तो स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-संयम और केवलि-कवलाहारके सिद्ध हो जानेपर समाजका उद्धार हो जायगा और न इसके निषिद्ध कर दिये जाने पर ही समाज उद्धार पा जायगा। अतएव विद्वानोंका एक ओर तो यह कर्त्तव्य है कि ऐसे विशुद्ध तार्किक मामलोंमें समाजको घसीटनेका प्रयत्न न करते हुए उसके उद्धारका मार्ग खोजनेका प्रयत्न करें और दूसरी ओर स्वपक्षहट और विचारोंकी खींचातानी न करते हुए तत्त्व-निर्णायक (वैज्ञानिक) दृष्टिसे गूढ़ तत्त्वोंकी शोध भी करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org